आभास और सत्

भ्रांति और भूल के तथ्य को स्वीकार करने के लिए प्रारंभ में ही मानव मन अनेक प्रकार से विवश हो जाता है| जिन कल्पना द्वारा हम विश्व को समझने का यत्न करते हैं, उनको यदि भूल सुधार के प्रयत्न कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा| अपने ग्रंथ में ब्रेडले समीक्षा द्वारा इन्हीं प्रयत्नों की असफलता को दिखाने तथा यह बताने का प्रयास करते हैं कि किस प्रकार जाना हुआ विश्व अपना खंडन स्वयं करता है, अतः वह एक सत्ता नहीं आभास है|

अपने विषय के स्पष्टीकरण के लिए ब्रेडले प्रकृत (मौलिक) और विकृत (अमौलिक) गुणों के भेद करते हुए कहते हैं, 'हमारे द्वारा दृष्टिगत एवं अनुभूत पदार्थों के जो पक्ष दिक से संबंध रखते हैं, संक्षेप में, वही प्रकृत गुण हैं, और शेष विकृत हैं| विश्व की पहेली तभी सुलझ सकती है, जब केवल प्रकृत गुणों को ही सत्य माना जाए और उनके अतिरिक्त सभी को किसी ना किसी प्रकार से विकृत और न्यूनाधिक रुप में आभास मात्र ही समझा जाए|' उनके अनुसार वस्तु स्वता सिद्ध तथा स्वनिर्भर होती है| उसमें या तो किसी गुण विशेष का भाव है या अभाव| और यदि उसमें उसका अस्तित्व है, तो यह संभव नहीं कि वह केवल यदा -कदा या किसी संबंध विशेष में ही हो| परंतु इस प्रकार के सिद्धांत को स्वीकार करने से विकृत गुणों का तिरस्कार होता है| एक वस्तु रंगीन है, परंतु उसके रंग प्रत्येक देखने वाले के लिए एक से नहीं, और कुछ को छोड़कर, अन्यों को वह बिल्कुल रंगीन नहीं प्रतीत होती| तो वह रंगीन है या नहीं? और आप जिससे संबद्ध होकर गुण प्रकट होता है- के पास क्या स्वयं रंग है? स्पष्ट है कि वह गुण उसमें तब तक नहीं माना जा सकता, जब तक उसको देखने वाली दूसरी आंख ना हो| अतः कोई भी वस्तु यथार्थत: रंगीन नहीं है, रंग केवल उस वस्तु का गुण प्रतीत होता है जो स्वयं रंगहीन है| इसी परिणाम पर पहुंचने के लिए सर्दी और गर्मी को भी लिया जा सकता है| कोई वस्तु हमारी त्वचा के एक भाग को ठंडी प्रतीत होती है और दूसरे भाग को गर्म| त्वचा के संबंध के अभाव में, उसमें ऐसा कोई गुण प्रतीत नहीं होता| और वैसे ही, तर्क के द्वारा, यह सिद्ध हो सकता है कि त्वचा में वह गुण(सर्दी और गर्मी) नहीं है| अतः यह गुण वस्तुत: किसी में भी नहीं है| इसी तरह जो शब्द सुनाई नहीं पड़ते वे कदाचित ही यथार्थ मानी जाएंगी| उनको सुनने वाला कौन होता है, जो स्वयं सुना नहीं चाहता, और जो सदा आवाज को सुनना भी पसंद नहीं करता| गंध और स्वाद का तो हाल इससे भी बुरा है, क्योंकि यह दोनों अपने हर्प या विपाद से और भी प्रत्यक्ष संबंध रखते हैं| यदि स्वाद की प्रतीति मुख में होती है, तो इसका अभिप्राय क्या यह है कि स्वाद उसका एक गुण है? क्या नाक के अभाव में गंध संभव है? परंतु स्वयं नासिका या जीभ की गंध अथवा स्वाद की प्रतीति किसी अन्य नासिका या जीएफ के बिना संभव नहीं, और ना गंध या स्वाद को इन इंद्रियों का गुण ही कहा जा सकता है, यद्यपि वे उनको यदा-कदा भोगते जरूर हैं| जब हम कहते हैं कि वस्तु अप्रिय है अथवा अमुक वस्तु प्रिय है, तो हम निसंकोच उस वस्तु को ही प्रियता या अप्रियता का आधार मान लेते हैं, परंतु वस्तु में प्रियता या अप्रियता कैसे हो सकती है? क्या कोई भी वस्तु यथार्थत: और स्वयं ही सुखद या दुखद है? क्या मैं भी इन चंचल विशेष चरणों (सुखद आदि) का चिरस्वामी कहा जा सकता हूं? उपर्युक्त तर्क से हम सर्वत्र यही देखते हैं कि वस्तुओं में जो विकृत (अमौलिक) गुण होते हैं हैं वे किसी न किसी इंद्रिय विशेष के लिए ही होते हैं और उन इंद्रियों में भी बेगुन उन वस्तुओं के लिए ही होते हैं, अन्यों के लिए नहीं| वस्तुतः रूप, रस, गंध आदि की अनुभूतियां 'अहम' के ही प्रसार क्षेत्र में आती है और उक्त गुण वस्तुतः इसी प्रसार परिधि की केंद्रभूत सत्ता के संबंधों पर आश्रित विशेषण मात्र हैं| सत्य केवल वह है जिसका प्रसार हुआ| अपनी आंतरिक या निजी अनुभूतियों के तथ्य, जिनमें स्वप्न और भ्रांतियां भी शामिल की जा सकती हैं इसके प्रमाण हैं; इनसे स्पष्ट है कि अनुभूति बिना विषय के, तथा विषय बिना अनुभूति के भी संभव है, और इसीलिए इन दोनों में गुण-गुणी संबंध नहीं हो सकता| विकृत (सेकेंडरी) गुण वस्तुतः सत्य से उत्पन्न आभास मात्र है और के प्रसार के अतिरिक्त अन्य कोई गुण नहीं| इस तर्क के दो अंग हैं- एक निषेधात्मक, तथा दूसरा स्वीकारआत्मक| प्रथम अंग यह बात स्वीकार नहीं करता कि विकृत गुण वस्तुओं की यथार्थ ' प्रकृति' है और दूसरा प्रकृत गुणों को स्वीकार करता है| ब्रेडले निषेधात्मक पक्ष के औचित्य का परीक्षण करते हुए कहते हैं -' मुझे इस सिद्धांत से कोई विरोध नहीं कि यदि एक वस्तु में कोई गुण है, तो वह सदा उसमें, रहना ही चाहिए, परंतु मेरा प्रश्न यह होगा कि क्या उसके आधार पर विकृत गुणों की सत्ता का समर्थन संभव है? यह कहते हैं, विकृत गुणों के पक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं, उनके विरोध स्वरूप हम यह कह सकते हैं कि वे केवल इंद्रिय गत दोष या अवरोध ही प्रकट करते हैं| यदि विकृत गुणों की अवधि केवल परिस्थिति विशेष में ही होती है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि उनका कोई अस्तित्व नहीं है और वे वस्तुओं में नहीं होते| और यदि उनका अस्तित्व मान लिया जाए, तू भी उक्त तर्क से उनका अभाव प्रमाणित होता है, अतः वह सारहीन है| भ्रांतियों या सपनों का होना भी इस प्रतिपति का खंडन नहीं कर सकता|

गुण तो वस्तु में स्थाई रूप से स्वयं होते हैं, और यदि वे व्यक्त नहीं होते या मिथ्या रूप में व्यक्त होते हैं तो इसका कारण उनकी प्रकृति में नहीं, अपितु उसके बाहर होता है| यदि हम गुणों को देख सकें तो उनका अस्तित्व सिद्ध है|

परंतु इस प्रकार की प्रतिपति भी ठहरती प्रतीत नहीं होती| क्योंकि यदि परिस्थिति विशेष में ही गुण अपने को प्रकट करते हैं, तो उन परिस्थितियों के ना होने पर उनका क्या स्वरूप होगा, यह आखिर हम कैसे बदला आएंगे? उन गुणों के आवास की स्वीकृति का उपक्रम करने अथवा स्वीकार करने के लिए विवश होने के पश्चात हम उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकते| यदि हम यह मान लेते हैं कि गुण किसी संबंध विशेष मैं ही प्रतीयमान रूप में ही, हमें ज्ञात होते हैं, तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हम उन्हें आभास के रूप में ही जानते हैं| और यह कल्पना तो नितांत निरर्थक और स्वयं खंडित होगी उनका स्वरूप वस्तुतः नहीं हो सकता है जो प्रतीत होता है| इस निष्कर्ष की पुष्टि करने के लिए ब्रेडले एक दृष्टांत के सहारे कहते हैं, कि यदि कोई व्यक्ति यह मानें कि उसकी प्रेयसी सदा सहज रूप में सुंदर है, तो यह उसकी श्रद्धा का विषय हो सकता है, और उसमें किसी संदेह के लिए स्थान नहीं| परंतु यदि हम साधारण वस्तुओं की ओर दृष्टिपात करें तो इसका परिणाम सर्वथा विपरीत होगा| किसी स्वादिया गंध को अनुचित सुखद या दुखद भले ही कह दिया जाए, परंतु इनको किसी वस्तु विशेष अथवा इंद्रिय विशेष का स्थाई गुण मान लेना न केवल अनुचित है, अपितु लगभग हास्यास्पद है| इसलिए सामान्यत: यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपर्युक्त प्रतिपति ठहर नहीं सकती, विकृत (सेकेंडरी) गुणों को आभास मात्र ही समझना चाहिए|

परंतु प्रश्न यह है कि क्या यह प्राकृति गुणों के आभास हैं? या फिर इनकी अपनी स्वयं की सकता है? प्रश्न का स्वीकार आत्मक पक्ष यह था कि प्रसार में वस्तु का सार अवश्य रहता है परंतु यह पूछना आवश्यक है यह निष्कर्ष ठीक है कि गलत? स्पष्टत: यह सिद्धांत सीधा साधा भौतिकवाद है| अपने स्थान संबंधों के सहित किसी वस्तु का प्रसारित होना एक वास्तविक तथ्य है और शेष तो विशेषण मात्र है| यहां यह पूछने की आवश्यकता नहीं कि यह मत वैज्ञानिक है या नहीं वैज्ञानिक इस अर्थ में कि वह किसी ना किसी विज्ञान के काम आता हो| हमारे प्रश्न से वस्तुत: इसका कोई संबंध नहीं क्योंकि हमारे अन्वेषण का विषय यहां यही है कि वह सिद्धांत सत्य है कि नहीं? और इस प्रकार विचार करने पर कोई भी भौतिकवाद को वैज्ञानिक नहीं मान सकता है|

प्राकृति (प्राइमरी) गुणों की सत्यता के विरुद्ध जो तर्क दिए जाते हैं, संक्षेप में यह है- 1. प्रथम तो प्रश्न किया उपस्थित होता है कि प्रसारित वस्तु के विभिन्न अंगों का संबंध क्या होता है जो उनके बीच अवश्यंभावी रूप से रहता है| ब्रेडले इस प्रश्न के निष्कर्ष को भौतिकवाद के लिए घातक कहते हैं| 2. दूसरे, विकृत गुणों (जिसमें संभवत अनुभूतियों और विचारों की भी गणना हो सकती है) के साथ प्रकृति गुणों का जो संबंध है वह पूर्णतया दूरबोध है| किसी को आभास नाम दे देने से ही उस का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता| जो आभासित होता है उसका अस्तित्व तो है ही, अतः उसका वर्णन भी होना चाहिए| परंतु भौतिकवाद के पास आभास का वर्णन करने के लिए कोई तर्कपूर्ण प्रणाली नहीं है| आभास का प्रसारित वस्तु से संबंधित होना आवश्यक है, परंतु फिर भी वह उससे संबंधित नहीं हो सकता| आभास ना तो उससे कहीं पृथक ही रह सकता है, क्योंकि और कोई वास्तविक स्थान ही नहीं, और ना उसको पृथक रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से उसका संबंध भी नष्ट हो जाएगा और वह किसी से भी व्युत्पन्न नहीं कहा जा सकेगा| परंतु साथ ही, यदि वह किसी भी अर्थ में सत से संबंधित है तो वह अपने असत् स्वरुप से उसे कैसे अछूता छोड़ सकता है? दूसरे शब्दों में, यदि प्रकृति यावत विकृति से मूलतः युक्त है तो फिर वह प्रकृति ही नहीं रह जाती| परंतु, अन्यथा ग्रहण करने पर, प्रकृति, प्रकृति तो रहती है, परंतु वह दो तत्वों में से एक ही होती है, और स्वयं वह सत्ता नहीं हो पाती| 3. तीसरे, जिस तरफ से विकृत गुणों की असारता सिद्ध होती है, वह प्रकृति गुणों पर भी उसी तरह लागू होती है| प्रसारित वस्तु हम तक केवल इंद्रिय सानिध्य द्वारा ही आती है, आर्य सानिध्य चाहे स्पर्श इंद्रिय का हो या चक्षु अथवा किसी अन्य इंद्रिय का, परंतु उसके परिणाम में कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि प्रत्येक अवस्था में वस्तु का प्रत्यक्ष हमें अपने शरीर में होने वाले किसी ना किसी विकार द्वारा ही होता है अन्य से कदापि नहीं| वस्तुतः अपने शरीर का प्रत्यक्ष भी हमें इसी प्रकार होता है; उसका प्रत्यक्ष हमें एक प्रसारित वस्तु के रूप में प्रत्यक्षी अंग (इंद्रिय) पर होने वाली अन्य अंग की क्रिया के द्वारा ही होता है| यह पूर्णतया निश्चित है कि हमें अपने शरीर की स्थान संबंधी यथार्थता का आश्चर्यजनक रूप से कोई सहज नहीं होता| परंतु यदि ऐसा माने तो प्रसारित वस्तु में उसके गुणों का अस्तित्व तभी होगा, जब उसका प्रत्यक्ष किसी दूसरे के द्वारा किया जाएगा, और यही बात फिर उस प्रत्यक्षी पर भी लागू होगी| इसका अभिप्राय यह है कि कोई वस्तु तब तक प्रसारित सिद्ध नहीं होती, जब तक उसे ऐसी दूसरी वस्तु के संबंध या क्रम में ना देखा जाए, जो स्वयं प्रसरण गुणों से युक्त ना हो| परंतु स्वप्न

और भ्रम की ओर से यहां पुनः आपत्ति उपस्थित होती है| वह आपत्ति यह है कि जब हम कहते हैं कि अमुक विषय की हमें मिथ्या प्रतीति हुई है, तो इसका आशय यह है कि उस विषय का हमारे ज्ञान से कोई संबंध अवश्य है, चाहे हम अपनी भूल को स्वीकार करें या ना करें| परंतु इस प्रकार का संबंध मानने से, प्रत्येक गुण एक आभास मात्र रह जाएगा| यहां हम पुनः उसी पुरानी प्रतिपत्ती की स्थापना करने का प्रयत्न कर सकते हैं| हम कह सकते हैं कि प्रसारित वस्तु स्वयं सत्य है और हमारे प्रत्य क्षण से उसका जो संबंध है वही परिवर्तनशील है| परंतु इतने पर भी वह अपरिहार्य निष्कर्ष को नहीं रोका जा सकता| यदि संबंध विशेष में ही कोई वस्तु किसी गुणों से युक्त कही जाती है तो इस आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह वस्तु संबंध विहीन होने पर भी वैसी ही रहेगी| यह बात पूर्णतया निश्चित प्रतीत होती है और यदि वह पूर्ण विशेष, उस संबंध विशेष के अभाव में, हमारे लिए असद हो, तो उस संबंध से पृथक उसकी सत्ता को स्वीकार करना सर्वथा असंगत है| स्पष्ट शब्दों में कहा जाए, तो अंत में यह एक निरर्थक प्रयास है, और इससे यह प्रतीत होता है कि मानव भौतिकवाद अपनी सत्ता को रखने के लिए यह आवश्यक समझता है कि वह प्रकृत गुणों के अस्तित्व की स्थापना ऐसे ढंग से कर दे जिससे उसका संबंध किसी इंद्रिय से ना रह जाए परंतु उसका स्वयं स्वरूप ही संबंध सापेक्ष है, भौतिकवाद को यहां भी शरण नहीं मिल सकती| 4. परंतु स्थान संबंधी गुणों की एकानतक सत्ता के विरुद्ध एक और तर्क है जो अधिक स्पष्ट है, विकृत गुणों के बिना प्रसारण की कल्पना ही नहीं की जा सकती और कोई भी व्यक्ति उसे अपने प्रकृत रूप में रखता हुआ उसके अस्तित्व को अपने मन में नहीं ला सकता| संक्षेप में प्रसारण किसी वस्तु का मन में आंशिक पृथक्करण मात्र तथा वस्तुओं के किसी पक्ष विशेष पर ही ध्यान केंद्रित करना है, यह एक उदभावना या कल्पना है जो स्वयं को भूलकर ठोस सत्य के स्थान पर एक गढ़ही असद कल्पना को ग्रहण करती है| ब्रेडले कहते हैं भौतिकवाद का मत है कि प्रसारित वस्तु अन्य गुणों से पूर्णतया पृथक तथा स्वता सिद्ध हो सकती है| परंतु, प्रसारण इस प्रकार कदापि संभव नहीं| यदि वह चाक्षुष है, तो वह अवश्य रंगों से युक्त होगा, और यदि वह स्पर्श द्वारा अन्य ऐसे प्रकारों से युक्त हुआ है जिन्हें मांसल अनुभूति कहा जा सके, तो वह कभी भी एंद्रीय बोधों अर्थात संवेदना से मुक्त नहीं हो सकता, यह संवेदन चाहे त्वचा से आए या संधियों या मांस पेशियों अथवा किसी केंद्रीय स्रोत से आए| कोई मनुष्य जो भी चाहे कहे, परंतु वह प्रसारण की कल्पना उस समय तक नहीं कर सकता अब तक की साथ ही प्रसरणशील (किसी वस्तु) की कल्पना ना कर ले| यही नहीं, अपितु दिक संबंध के व्यंजन के लिए ' ऊपर नीचे' तथा दाएं बाएं' आदि के भेद भी आवश्यक है| परंतु स्पष्ट है कि यह भेद केवल स्थान संबंधी नहीं हो सकते| सामान्य प्रसरणशील की भांति वह उन सभी विकृत गुणों में होंगे जो उपर्युक्त संवेदनों से प्राप्त होते हैं| कुछ मनोवैज्ञानिक तो इससे भी आगे बढ़कर, विकृत गुणों को ही मूल गुण मानेंगे और प्रकृत गुणों को व्युत्पन्न, क्योंकि उनके मत में प्रसारण एक ऐसी वस्तु से उद्भुत सृष्टि या विकास है जो पूर्णतया अप्रसारित रहती है| मैं इसका समर्थन नहीं कर सकता परंतु मैं एक ऐसे तथ्य की ओर संकेत कर सकता हूं जो निर्विवाद है| प्रसारण की स्थापना या कल्पना में किसी न किसी विकृत गुणों का समावेश अनिवार्य है| वह स्वयं एक पृथक्करण है जो कुछ उद्देश्यों के लिए आवश्यक होते हुए भी सत माने जाने पर हास्यास्पद विषय बन जाता है|

वैज्ञानिक पद्धति में विकृत गुणों को प्रकृत गुणों का परिणाम ही समझा जाता है| अतः स्पष्ट है कि प्रकृत गुण स्वाधीन एवं पूर्ववर्ती हैं| परंतु यह एक अति साधारण भूल है क्योंकि मान लीजिए कि आपने यह सिद्ध कर दिया कि यदि एक तत्व का दिया हो, तो दूसरा तत्व ख स्वत: ही आ जाएगा, और मान लीजिए कि आप यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि क चाहे ग के साथ हो या घ अथवा ङ अथवा अन्य गुणों में से किसी एक के साथ हो, परंतु ख फिर भी विद्यमान रहता है, तो भी आप इसका यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि क सत और स्वतंत्र है| आप कहते हैं कि अन्य किसी भी बात का विचार किए बिना ही, विकृत ख प्रकृत क से प्रसूत माना जा सकता है| यही सही, परंतु इसका एकमात्र अभिप्राय यही है कि इस प्रक्रिया में क के सहगामीयों की विशेष प्रकृतियों का कोई विशेष महत्व नहीं है| परंतु यदि कोई यह कहे कि क अकेला रह सकता है अथवा अकेलेपन में ही उसकी वास्तविक सत्ता है, तो उसके लिए कोई प्रमाण ही नहीं, कोई लघुत्तम मान्यता भी नहीं मिलेगी| वैज्ञानिक विश्लेषण या विवेचन में कभी-कभी कुछ पक्षों की उपेक्षा कर दी जाती है, परंतु इसके लिए यदि यह कहा जाए कि इन उपेक्षित तत्वों की सत्ता ही नहीं और इनकी अपेक्षा करके भी हम जिसका उपयोग करते हैं वही एकमात्र स्वतंत्र सत्य है, तो यह बर्बर तत्वज्ञान ही कहा जाएगा|

अतः निष्कर्ष के रूप में ब्रेडले कहते हैं कि यदि विकृत गुण आभास है तो प्रकृत गुण भी नि:स्संदेह अकेले नहीं टिक सकते| भौतिकवाद का विकास इसी विभाजन के आधार पर बिना सोचे समझे किया गया है, परंतु इसके द्वारा सत् (Reality) का मूल स्वरूप तनिक भी निकट नहीं आ सका है|

विश्व में जो कुछ भी है उसके दो वर्ग हैं- वस्तु या पदार्थ और उनकी विशेषताएं| गुणी और गुणों का विभाजन तथा वर्गीकरण चिरकाल से मान्य है| एक गंभीर शास्त्रीय प्रयत्न का परिणाम ही है परंतु तथ्य को समझने एवं सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से, इस पद्धति की असफलता स्पष्ट झलकती है|

हम शक्कर की एक ढेले का उदाहरण लेते हैं| वह एक वस्तु है और उसमें गुण हैं, विशेषताएं हैं, जिससे वह विशिष्ट है| उदाहरण के लिए, वह श्वेत होता है, कठोर होता है और मधुर होता है| हम कह सकते हैं कि यह सब शक्कर है| परंतु यहां ' है' का अर्थ संदिग्ध है| किसी वस्तु का कोई गुण स्वयं वह वस्तु नहीं हो सकता| यदि मधुर का अर्थ ' केवल- मात्र मधुर हो, तो वह वस्तु मधुर नहीं हो सकती| और फिर मधुर होने मात्र से शक्कर का श्वेत या कठोर होना भी संभव नहीं है, क्योंकि यह कौन सब एक दूसरे से पृथक हैं और यदि इन सब गुणों को पृथक पृथक रूप में ग्रहण किया जाए तो इनकी समूह मात्र को भी वस्तु नहीं कहा जा सकता| स्पष्ट तहत शक्कर केवल श्वेतिमा, केवल कठोरता और मधुरता केवल नहीं है| क्योंकि उसकी सत्ता किसी ना किसी प्रकार, उन सब की एकता में निहित है| परंतु दूसरी और हम यह पता लगाएं कि वस्तु में उसके विभिन्न गुणों की अतिरिक्त और क्या हो सकता है, तो हम एक बार फिर हतप्रभ हो जाते हैं इन दोनों के बाहर अथवा इनके भीतर रहने वाली कोई वास्तविक एकता हमें नहीं दिखाई पड़ती| निसंदेह अपने विशिष्ट गुणों का समूह मात्र शक्कर नहीं है, परंतु परस्पर संबंधित गुणों से अधिक कोई वस्तु हो भी क्यों? इस संदेश वस्तु का रहस्य यही है की श्वेतिमा, कठोरता, मधुरता आदि को एक विशेष रूप में एक साथ स्थित हैं| गुणों का अस्तित्व है और वे परस्पर संबंधित हैं| परंतु यहां भी जब हम शब्दों को छोड़ देते हैं, तो हम पूर्ववत भूल भुलैया में पड़ जाते हैं| मधुरता, श्वेतिमा और कठोरता ऐसे उद्देश्यों (वस्तु) का रूप धारण कर लेते हैं जिनके विषय में हमें कुछ कहना है| निसंदेह हम इनमें से किसी को भी एक दूसरे का विधेय नहीं बना सकते, क्योंकि यदि हम उनके बीच तारतम्य स्थापित करने का प्रयत्न करें तो यह बात जमती नहीं है| इस दृष्टि से भी यह एक दूसरे के प्रति पूर्णतया असंगत एवं नितांत परस्पर विरोधी से हैं| ऐसी अवस्था में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक का एक संबंध बताया जाना चाहिए| एक गुण 'क' दूसरे गुण 'ख' से संबंध रखता है| परंतु यहां ' है' क्या अभिप्राय है? हमारा अभिप्राय यह नहीं कि 'क' का 'ख' से संबंध है, परंतु फिर भी हम कह सकते हैं कि 'क' गुण 'ख' से संबद्ध है| इसी प्रकार 'ग' को 'घ' के सामने और 'ङ' को 'च' के दाहिने बताया जाता है| हम यह सब कहते हैं, परंतु जब हम 'घ' के सामने 'ग' अथवा 'च' के दाहिने 'ङ' का अर्थ समझाने का प्रयत्न करते हैं, तो हमें रुक कर विमुख होना पड़ता है| नहीं, हमारा उत्तर होना चाहिए कि संबंध वस्तु नहीं है, वह तो 1 गुण है जो किसी में रहता है या किसी से संबंध रखता है| अधिक से अधिक हम तादात्म्य सूचक शब्दों के स्थान पर संबंध सूचित शब्द का प्रयोग कर सकते हैं| परंतु संबंध सूचक शब्द से भी कोई अर्थ नहीं निकलेगा| अतः छिछले अलंकारिक प्रयोगों के अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं बन पड़ता है|

अब हम केवल एक ही व्यंजक का संबंध न बताएं, परंतु दोनों का| 'क' और 'ख' आमुक दृष्टि से एक हैं| और साथ ही एक दूसरी दृष्टि से परस्पर भिन्न है| अथवा यूं कहे कि दिक या काल में वे दोनों इस प्रकार से स्थित हैं| इस प्रकार हम ' है' का त्याग कर 'हैं' को ग्रहण करते हैं| परंतु गंभीरता से सोचने पर यह कोई समस्या का हल नहीं, अपितु वाणी विलास या शब्दों का हेरफेर मात्र प्रतीत होता है| क्योंकि आपका अभिप्राय यदि यह है कि 'क' और 'ख' दोनों पृथक पृथक अमुक संबंध रखते हैं, तो आपका कथन मिथ्या है, और यदि आप कहें कि 'क' और ' 'ख' आमुक संबंध से संबंधित हैं तो आपका कथन निरर्थक है, क्योंकि पहले की तरह यहां भी, कोई विधेय नितांत अभिन्न है तो वह व्यर्थ है और यदि वह उद्देश्य को वितरित रूप दे देता है तो वह मिथ्या है|

इस भंवर जाल से निकलने के लिए ब्रेडले एक दूसरा रास्ता अपनाते हैं| वे कहते हैं, संबंध को संबंधित का गुण मान कर उनको न्यूनाधिक रूप में स्वतंत्र 'ग' एक संबंध है जो 'क' और 'ख' दोनों को आबद्ध करता है और इसकी प्रतीति दोनों के साथ होती है| परंतु फिर भी हम आगे नहीं बढ़ते| संबंध 'ग' को 'क' और 'ख' से भिन्न मान लिया गया है और वह उनका विधेय नहीं है| फिर भी संबंध के विषय में कुछ ना कुछ कहा गया है और पुनः 'क' एवं 'ख' के विषय में भी, यदि यह बात है, तो एक अन्य संबंध 'घ' की आवश्यकता प्रतीत होगी जो एक तरफ तो 'ग' और दूसरी तरफ 'क' एवं 'ख' के बीच रहेगा| परंतु इस प्रकार एक अनंत स्थिति उत्पन्न हो जाती है| नया संबंध 'घ' किसी प्रकार भी 'ग' अथवा 'क' और 'ख' का विधेय नहीं हो सकता| अतः हमें एक और नवीन संबंध 'ङ' तो खोजना पड़ेगा जो 'घ' तथा अन्य के बीच स्थित रहेगा| परंतु इसके पश्चात हमें 'च' आदि अनंत संबंधों की कल्पना करनी पड़ेगी अतः संबंधों को स्वतंत्र रूप से सत्य मान लेने से समस्या नहीं सुलझती, क्योंकि, यदि ऐसा हो,

तो गुण तथा उनके संबंध एक दूसरे से नितांत पृथक हो जाते और ऐसी अवस्था में हमारा वर्णन शुन्य मात्र रह जाएगा, अथवा पुराने संबंध एवं व्यंजनों के बीच हमें नए संबंध को लाना पड़ेगा| परंतु इस नए संबंध से हमारा काम नहीं चलता| वह या तो एक और अन्य नए संबंध की मांग उपस्थित करता है|

इस प्रकार ऐसे गुणों में विभाजित करने का प्रयत्न किया गया जिनमें से प्रत्येक सत्य हो और अपने स्वतंत्र संबंध रखते हुए भी येन केन प्रकारेण एकत्र होने की क्षमता रखते हो| इस तरह के प्रयत्न की असफलता स्पष्ट हो चुकी है और विचार करने पर हमें यह मानने को विवश होना पड़ता है कि व्यंजकों के साथ साथ एक संबंध की कल्पना निरा भ्रम है| यदि उसको सत्य होना है, तो वह किसी ना किसी प्रकार के व्यंजनों के महत्व को कम करके अथवा कम से कम उनके प्रतीयमान होकर या उनको अपने से संबंधित करके ही हो सकता है| 'क' और 'ख' के बीच जो संबंध है वह वस्तुतः दोनों का अभ्यांतर-वर्ती तात्विक मूलाधार है| यदि हम कहे कि 'क' 'ख' के सदृश्य है, तो यह मूलाधार वह 'र' तादात्म्य है जो इन भिन्न तत्व को एक सूत्र में रखता है| अच्छा दिक और काल में सर्वत्र कोई ऐसा संपूर्ण हो जो अपने सभी संबंधित अंगों को एक सूत्र में जकड़े रहे, अन्यथा ना कोई भिन्नताएं ही होगी और ना संबंध ही| ऐसा प्रतीत होता है कि सत् में 'क' और 'ख' दो ऐसे भेद थे जो ना केवल एक दूसरे के प्रति असंगत थे परंतु स्वयं सत्य के प्रति भी| अतः अपने विभिन्न गुणों को, बिना किसी भेदभाव के अपने में समावेत रखने के लिए उनके बीच स्थित संबंधों का रूप ग्रहण कर लेता है| यही कारण है कि कुछ गुण तो असंगत और कुछ संगत होते हैं| वे सभी भिन्न होते हैं परंतु साथ ही , एक पूर्ण के अंग होने के कारण, वे एक सूत्र में बंधने के लिए बाध्य होते हैं| और जब भी एक संबंध के द्वारा एकत्र होते हैं, तभी उनका विरोध या संघर्ष शांत हो जाता है| इसके विपरीत जब कोई वस्तु अपने गुणों में एक संबंध स्थापित करने में असफल हो जाती है, तो वे तुरंत परस्पर विरोधी हो जाते हैं| इस प्रकार रंग और गंध सत् में शांति पूर्वक रहते हैं क्योंकि वस्तु अपने को विभाजित कर लेती है, और विभागों को अपने भीतर ही साथ साथ रहने को छोड़ देती है| परंतु रंग और रंग में टक्कर होती है क्योंकि उनकी विशेष समानता उन्हें एक साथ खींचती है| परंतु यही समानता जब दिक के आश्रय से संबंध परक हो जाती है, तू भी पुनः शांत हो जाते हैं| संक्षेप में ' विपरीत' की सत्ता भेदों में है- ऐसी वस्तुओं के भेदों में जो जुड़ने के लिए अपेक्षित गुणों से युक्त नहीं हो सकती| यह एक ऐसा कट बंधन है जिसमें साहचर्य की कोई काम चलाउ व्यवस्था ना हो, परंतु जहां संपूर्ण अपनी एकता को स्थिर करके एक व्यवस्था का स्वरूप ग्रहण करता है, वहां सस्नेह साहचर्य होता है|

ब्रेडले के अनुसार वस्तु में जो भेद देखे जाते हैं वे वस्तुतः हमारे दृष्टि भेद हैं, वस्तु तो इकाई ही रहती है और गुण और गुणी के विभिन्न पक्ष वस्तुतः हमारे अपने दृष्टिकोण है, अतः उनसे सत् कि कोई हानि नहीं होती| परंतु यह बचाव सार हीन है क्योंकि प्रश्न तो यह है कि सत की निर्दोष कल्पना क्या हो? इन दृष्टिबिंदुओं के अभाव में वस्तु निर्गुण प्रतीत होती है| और यह दृष्टि बिंदु, वस्तु के अभाव में परस्पर सुसंगत होने पर भी कोई अस्तित्व ही नहीं रखते प्रतीत होते| वस्तु स्थिति एवं हमारे दृष्टिकोण के बीच भेद की कल्पना करने से मूल उलझन दोगुनी हो जाती हैं| हमारे मन में भी वैसी ही असंगति होगी जैसी की वस्तु में|

निष्कर्षत: ब्रेडले कहते हैं, किन्ही दिए हुए तथ्यों का वर्गीकरण संबंधों और गुणों में करना व्यवहार में कितना ही आवश्यक क्यों ना हो, परंतु सैद्धांतिक दृष्टि से वह समझ के बाहर की बात है| संबंध गुण विशिष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं अपितु आभास है|

ब्रेडले का तत्वमीमांसा सिद्धांत निरपेक्ष प्रत्ययवाद का समर्थक है| उनके अनुसार मौलिक सत्ता एक ऐसा सर्व समावेशी संपूर्ण है जिसके अंदर सारे विविधताओं के सम्मिलित रहने के बावजूद उसका स्वरूप एक शुद्ध इकाई का स्वरूप है| विविधताओं का अलग अलग और स्वतंत्र अस्तित्व उसके अंदर नहीं है| विविधता है अपने स्वतंत्र रूप में अवास्तविक हैं| इसलिए उनसे संबंधित जितनी भी हमारी अनुभूतियां हैं वह वास्तविकता का ज्ञान हमें नहीं देती| मनुष्य का साधारण ज्ञान एक एक वस्तु का उसके अलग विशिष्ट रूप में ज्ञान है और इसलिए असत्य है| सिर्फ वैसा ही ज्ञान सत्य है जो वास्तविकता का उसकी शुद्ध एकरूप संपूर्णता में हमें ज्ञान देता है| ऐसा ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान कहलाता है| यह निरपेक्ष ज्ञान एक एक सीमित वस्तु के ज्ञान को भी अपने अंदर सम्मिलित किए हुए हैं, परंतु अलग-अलग रूप में नहीं बल्कि एक व्यवस्थित तंत्र के रूप में, जिसके सभी पहलू परस्पर एक आंतरिक सूत्र में बंधे हुए हैं| यही निरपेक्ष ज्ञान एकमात्र सत्य है| अन्य सारे ज्ञान असत्य हैं| सत्य ज्ञान एक व्यवस्थित तंत्र है जिसमें मनुष्य के विविधता संबंधी सारे अलग-अलग ज्ञान एक व्यवस्थित इकाई के रूप में विद्यमान हैं| ब्रेडले के अनुसार साधारण ज्ञान के क्षेत्र में हमारा सत्य असत्य का भेद करना ही गलत है| हमारा समस्त साधारण ज्ञान असत्य हैं क्योंकि वह

आंशिक है, सापेक्ष है| केवल निरपेक्ष ज्ञान ही सत्य होता है| परंतु फिर एक दृष्टि से हम यह भी कह सकते हैं कि हमारा प्रत्येक ज्ञान सत्य है, क्योंकि एक आंशिक रूप में प्रत्येक को वास्तविकता के ही एक पहलू से संबंध रहता है| जिसे हम भ्रम या असत्य ज्ञान कहते हैं वह भी इस दृष्टि से सत्य है, क्योंकि उसमें भी आंशिक सत्यता है| मानव ज्ञान संपूर्ण रूप से ना तो सत्य है ना असत्य|